जैनदर्शन में समतावादी समाज-रचना के प्रेरक तत्त्व

□ डॉ० निज़ाम उद्दीन

विषमताओं और असंगतियों से घिरे इस समाज का सारा वातावरण और परिवेश असंतुलित है। शक्तिस्रोतों में असंतुलन है, प्रकृतिजगत में असंतुलन है, मनुष्य के विचारों-भावों में असंतुलन है। मनुष्य का सकल जीवन विषमताग्रस्त है। पर्यावरण प्रदूषित है, हमारी जीवन-पद्धति प्रदूषित है। वायु, जल सभी में प्रदूषण है। भ्रष्टाचार, उत्कोच, लूट-मार, मिलावट, तस्करी, हिंसा भरे मानव-समाज में अजीब तरह की अफरा-तफरी है। भौतिकता द्वंद्वमयी बन चुकी है। मनुष्य की जीवन-सरिता में जीवन-मूल्यों के स्रोत सूख गये हैं। वह विदिशा में भ्रमित होकर भटक रहा है। नैतिकता स्खलित हो रही है। जो देश अहिंसा को परम धर्म समझता आ रहा है, उसी देश में—महावीर, गौतम, नानक के देश में हिंसा पर हिंसा हो रही है। मनुष्य-मनुष्य को जान से मार रहा है। लगता है हम गीता, कुरआन भूल गये, जिनवाणी, गुरुवाणी बिसार बैठे हैं। महावीर ने 'आचारांगसूत्र' में कहा है—"जब तुम किसी को मारने, सताने या अन्य प्रकार से कष्ट देना चाहते हो तो उसकी जगह अपने को रखकर सोचो। यदि वही व्यवहार तुम्हारे साथ किया जाता तो कैसा लगता? यदि मानते हो कि तुम्हें अप्रिय लगता है तो समझ लो दूसरे को भी अप्रिय लगेगा। यदि नहीं चाहते कि तुम्हारे साथ कोई ऐसा व्यवहार करे तो तुम भी किसी के साथ वैसा व्यवहार मत करो।" उन्होंने संदेश दिया था कि राग-द्वेष के तटों के बीच रहो; न किसी के प्रति रक्त हो न किसी के प्रति द्विष्ट। किसी के प्रति न राग रखो, न द्वेष रखो, समभाव में रहो। समता भाव के उपवन में ही अहिंसा, अपरिग्रह, सत्य और अनेकान्त के सुगंधित गुलाब विकसित होते हैं। समता का अर्थ है मन की स्थिरता, राग-द्वेष का उपशमन, समभाव, सुख-दुःख में अचल रहना। समता आत्मा का स्वरूप है। सभी प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य भाव रखना चाहिए—"आयतुले पयासु"।[1] साधु प्राणिमात्र के प्रति समता का चिन्तन करते हैं। समता से श्रमण, ज्ञान से मुनि होता है।[2] समता में ही धर्म है—"समया धम्ममुदाहरे मुणी"।[3] महावीर ने कहा है कि साधक को सदैव समता का आचरण करना चाहिए। उनके मांगलिक धर्मोपदेश का आधार समता है, अर्थात् पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, निर्जीव-सजीव, सकल मानवजगत् की रक्षा की जाये, सब पर दया-दृष्टि रखी जाये, सब से प्रेम-मैत्री भरा व्यवहार किया जाये। सूक्ष्मातिसूक्ष्म,

---

[1] सूत्रकृतांग १।११।३

[2] उत्तराध्ययन २५।३०

[3] सूत्रकृतांग, २।२।६

क्षुद्रातिक्षुद्र जीव की भी देखभाल और रक्षा की जाये, जल, वृक्ष, नदी, तालाब, खेत, वन, वायु, वन्यपशु, वनस्पति सभी को सुरक्षा प्रदान की जाये, सभी प्रणियों को अभयदान दिया जाये। कहने का तात्पर्य यह है कि महावीर का जीवन-दर्शन सबका हित और कल्याण चाहना है, हित और कल्याण करना है, आचार-व्यवहार में भी मैत्री, अहिंसा, समता भाव हो, केवल विचारों में, वाणी में, शब्दों में ही समता भाव न हो। कोरी सहानुभुति से या 'लिप्स सिम्पेथी' से काम नहीं चलेगा, उसके अनुकूल आचरण भी करना जरूरी है।

आचार्य जीतमल ने समता को आत्मधर्म मानते हुए कहा है—

समता आतम-धर्म है, तामस है पर-धर्म।
अच्छा अपने आप में, रहन्त समझो मर्म।।
समता में साता घणी, दुख विषमता माँह।
ममता तज समता भजो, जो तिरने की चाह।।

समता-धर्म को आचरित करने पर ही जीवात्मा इस संसार-सागर का संतरण कर सकता है। समता में सद्गति है, समता में सद्भाव है, समता में प्रेम-मैत्री है। इसके विपरीत विषमता या तामस में दुर्गति है, दुर्भावना है, द्वेष-घृणा है। समता सुधा है, अमृत है, राग अग्नि है। 'ज्ञानार्णव' में कहा गया है कि जब जीव अपनी आत्मा को आत्मा के द्वारा औदारिक, तैजस व कार्मण इन तीन शरीरों से तथा राग, द्वेष व मोह इन तीन दोषों से भी रहित जानता है तब उसका साम्यभाव में अवस्थान होता है।[1] क्रूर तथा उग्रवादी की क्रूरता, उग्रता समत्वयोगी के प्रभाव से शान्त हो जाती है—

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैरा परस्परम्।
अपि स्वार्थप्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः।।[2]

समता मोह, क्षोभ को शान्त करती है।[3] भगवती आराधना में मोह को हाथी कहा गया है—मोहमहावारणेन हन्यति।[4] जो व्यक्ति समता भाव में विचरण करता है उसकी कथनी-करनी समान होती है, उसका अन्तर्वाह्य एक जैसा होता है। उसका मन सम्यक् होता है—'सम्यक् मणे समणे।' जिस प्रकार हमें अपने प्राण प्रिय हैं, उसी प्रकार दूसरे जीवधारियों को भी अपने प्राण प्रिय हैं। भला हमें किसी के प्राण हरने का क्या अधिकार है जबकि हम उसे प्राण प्रदान नहीं कर सकते। यही समत्वदृष्टि है, आत्मौपम्यभाव है। 'गीता' में कहा गया है कि वही महान योगी है जो आत्मौपम्यभाव रखकर अपने सुख-दुःख के समान ही, दूसरे के सुख-दुःख को समझता है[5]—आसक्ति का परित्याग कर, सिद्धि-असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर योग में स्थित होकर कर्म करना समत्वभाव है।[6] जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता

---

१. ज्ञानार्णव, २०।१६
२. ज्ञानार्णव, २०।२०
३. प्रवचनसार १।७
४. भगवती आराधना, १३।९
५. गीता
६. गीता—२,४८

है, न शोक करता है, न कामना करता है, शुभ-अशुभ फल का त्याग करता है, वही व्यक्ति सच्चा भक्त है तथा ईश्वर को प्रिय है[1] और जो व्यक्ति शत्रु-मित्र में, मान-अपमान में समान रहता है, सर्दी-गर्मी तथा सुख-दुःख के द्वन्द्व में भी सम रहता है, संसार में जिसकी आसक्ति नहीं होती, वह सच्चा भक्त है, वही परमपिता परमात्मा को प्रिय है।[2] समता का अर्थ समभाव है—न राग न द्वेष, न ममत्व न आसक्ति। समता का अर्थ है तराजू के दो समान पलड़े, न एक नीचे न दूसरा ऊपर। समत्व में जीना ही सच्चा जीना है। समस्त प्राणियों के प्रति मेरे मन में समत्व का भाव है, किसी के प्रति वैर-भाव नहीं। आशा का त्याग कर समाधि-समत्व को ग्रहण करना चाहिए—

सम्मं मे सव्व-भूदेसु, वेरं मज्झं ण केण वि।
आसाए वोसरित्ताणं, समाहि पडिवज्जए॥ (मूला., २।४२)

शलाकापुरुष वीतरागी महावीर का कथन है कि तुम में न कोई राजा है न प्रजा, न कोई स्वामी है न कोई सेवक। समता-शासन में दीक्षित होने के पश्चात् राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक नहीं हो सकता। सबके साथ समता का व्यवहार करना चाहिए।[3] जो समभाव में रहता है वह लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान में एक जैसा होता है।[4] वह इस लोक व परलोक में अनासक्त वसूले से छीलने या चन्दन का लेप करने पर तथा आहार के मिलने या न मिलने पर भी सम रहता है—हर्ष-विषाद नहीं करता।[5] मैत्री और सद्भाव भरा व्यवहार करना ही समता भाव है। जहाँ मैत्री व सद्भाव नहीं, वहाँ न समता है न शांति है।

समता के आयाम चार माने जा सकते हैं—

(१) अहिंसा,
(२) निर्भयता,
(३) मैत्री,
(४) सहनशीलता।

जैनदर्शन अहिंसा पर आधारित है। अहिंसा का मतलब है किसी जीव को किसी भी प्रकार का—शारीरिक, मानसिक, वैचारिक, आर्थिक कष्ट न देना। सबका कल्याण चाहना अहिंसा है। सबको आत्मवत् समझना अहिंसा है, तीर्थंकर महावीर ने 'सर्वजनहिताय' की बात कही थी, जबकि उनके समसामयिक गौतम बुद्ध ने 'बहुजनहिताय' की बात कही थी। जैनदर्शन में प्रतिपादित अहिंसा पाँच अणुव्रतों / महाव्रतों में सर्वोपरि है। उसके द्वारा सकल प्राणिजगत् की रक्षा की जा सकती है। महावीर ने सही कहा है—'अहिंसा के घड़े में शत्रुता

---

१. गीता—१२ १७

२. गीता—१२.१८

३. जे यावि अणायगे सिया, जे वि य पेसगपेसगे सिया।
जे मोणपयं उवट्ठिए, नो लज्जे समयं समा चरे॥ —सूत्रकृतांग—१।२।२।३

४. समणसुत्तं—३४७

५. समणसुत्तं—३४९

का एक छेद नहीं रह सकता। वह पूर्ण निश्छिद्र होकर ही समत्व के जल को धारण कर सकता है।' भयभीतों को जैसे शरण, पक्षियों को जैसे भोजन, समुद्र के मध्य जैसे जहाज, रोगियों को जैसे औषध और वन में जैसे सार्थवाह का साथ आधारभूत है, उसी प्रकार अहिंसा प्राणियों के लिए आधारभूत है। अहिंसा चर-अचर सभी का कल्याण करने वाली है—

"एसा सा भगवती अहिंसा जा सा भीयाण विव सरणं, पक्खीणं पिव गगणं, तिसियाणं पिव सलिलं, खुहियाणं मिव असणं, समुद्दमज्झे वा पोतवहणं, चउप्पयाणं व आसमपयं, दुहट्ठियाणं च ओसहिबलं, अडवीमज्झे व सत्थगमणं, एत्तो विसिट्ठतरिका अहिंसा जा सा पुढवि-जल-अगणि-मारुय-वणस्सइ-बीज.हरित-जलचर-थलचर-खहचर-तस-थावर-सव्वभेयखेमकरो।"[1]

'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा गया है कि भय और वैर से मुक्त होकर साधक सब प्राणियों को आत्मवत् समझे और किसी की हिंसा न करे।[2] 'आचारांग' के अनुसार आत्मीयता की भावना का आधार ही अहिंसा और मैत्री है। किसी उद्वेग, परिताप या दुःख ने, नहीं पहुँचाना चाहिए। अहिंसा शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है जिसका प्रतिपादन तीर्थंकरों अर्हतों ने किया।[3] अहिंसा को नैतिकता के साथ-साथ रखना चाहिए, यह दोनों पृथक् पृथक् नहीं हैं। व्यवहार में अहिंसा नैतिक आचरण की सीमा का संस्पर्श करती है। 'आचारांगसूत्र' में बहुत ही गहन और व्यापक जीवन-दर्शन अहिंसा, मैत्री के माध्यम से रेखांकित किया गया है, यह आत्मीयता का साकार रूप है—

"जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है वह तू ही है, जिसे परिताप देना चाहता है वह तू ही है।"[4] यहीं से हम समाज में समानता और एकता का वातावरण बना सकते हैं। अहिंसा, मैत्री से बढ़कर समाज में समानता, एकता, सद्भाव, शांति और किसके द्वारा प्राप्त हो सकती है। उपनिषदों में सब भूतों को अपनी आत्मा में देखना या समस्त भूतों में अपनी आत्मा को देखने का सर्वात्मदर्शन व्यंजित है, वह अहिंसा का ही प्रतिपादन है, यहाँ किसी से घृणा का प्रश्न नहीं उठता—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुप्सुते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः॥
तत्र को मोहः कः शोकः एकात्वमनुपश्यतः॥

महाभारत में अहिंसा, मैत्री, अभय का विस्तार से बार-बार प्रतिपादन किया गया है। भला जो सर्व भूतों को अभय देने वाला है वह दूसरों को कैसे मार सकता है। अभयदान या प्राणदान से बढ़कर संसार में और कोई दान नहीं हो सकता—"प्राणदानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति। न ह्यात्मनः प्रियतरं किंचिदस्तीह निश्चितम्।[5] अहिंसा परम धर्म है, परम

---

[1] प्रश्नव्याकरण, ६।२१

[2] उत्तराध्ययन, ६।६

[3] आचारांगसूत्र, १।४।२

[4] आचारांगसूत्र, १।५।५

[5] महाभारत, अनु. पर्व, ११६-१६

दम है, परम दान है, परम तप है।[1] यही परम यज्ञ, परम फल, परम मित्र और परम सुख है।[2] अहिंसा निर्बल, कायर या शक्तिहीन का काम नहीं, यह तो सबल व्यक्ति का अस्त्र है। शक्ति होने पर किसी को न सताया जाये, न बदला लिया जाये अपितु क्षमा कर दिया जाये, यही वीरता का लक्षण है, यही अहिंसा है, इसी को निर्भयता कहेंगे। जब कहते हैं कि मैं किसी से वैर नहीं रखता, कोई मुझ से वैर न रखे, सब प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ति मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणई॥

तब मनुष्य को सभी जीवों के प्रति मैत्री भाव रखना चाहिए—'मेत्ति भूएसु कप्पए।[3] सामायिक का अर्थ है प्राणिमात्र को आत्मवत् समझना, समत्व का व्यवहार करना। सामायिक वह व्यवहार है जिसके द्वारा हम समत्व को, समता भाव को अपने जीवन में उतारते हैं—"समस्य आयः समायः स प्रयोजनम् यस्य तत्सामायिकम्।" हमारे अन्दर समता भाव आ जाये तो हमारी अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है।

समतावादी समाज की संरचना के लिए सहिष्णुता या सहनशीलता का होना भी अनिवार्य है। भारत में शासनप्रणाली की प्रमुख विशेषता धर्मनिरपेक्षता है। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्मविमुख होना नहीं है, वरन् इसका अर्थ है जैसे हम अपने धर्म को महान्, श्रेष्ठ समझते हैं, वैसे ही दूसरों के धर्मों को महान् और श्रेष्ठ समझें। हम यदि चाहते हैं कि हमारे धर्मग्रन्थ या धर्मग्रन्थों की कोई अवमानना न करे, सब लोग उनका सम्यक् सम्मान करें तो हमें भी चाहिए कि हम भी दूसरी जाति के धर्म का, धर्मग्रन्थों का उचित सम्मान करें। दूसरों की धर्मपद्धति या जीवनपद्धति के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित करना हमारा कर्तव्य है, पर हम ऐसा करते कहाँ हैं? तभी बाबरी मस्जिद और रामजन्मभूमि मंदिर पर झगड़ा खड़ा करके एक दूसरे की जान लेने पर उतारू हो जाते हैं। हमारे पास महान् धर्मग्रन्थ हैं, महान् धर्मोपदेशक और धर्मगुरु हैं, विद्वान् हैं, आचार्य हैं; लेकिन आचरण हम सर्वथा विपरीत करते हैं। कष्टसहिष्णु तो हैं ही नहीं, दूसरे के कटु शब्द भी सहन करने की सहनशीलता, विशालहृदयता हमारे अन्दर नहीं। हमारा दृष्टिकोण ही संकुचित और दूसरों के प्रति द्वेष-घृणा से पूर्ण रहता है। मानवीय संदर्भ नहीं होते हमारे जीवन-व्यवहार में। हम यह जानते हैं कि क्रोध प्रीति का नाश करता है, माया मैत्री का नाश करती है और लोभ सबका (प्रीति, विनय, मैत्री का) नाश करता है।[4] हमें चाहिए कि उपशम से क्रोध को नष्ट करें, मृदुता से मान को जीतें, ऋजुभाव से माया और संतोष से लोभ पर विजय प्राप्त करें।[5] धर्म जोड़ने का काम करता है, तोड़ने का नहीं। धार्मिक असहिष्णुता न जाने कितने वर्षों से अनिष्ट करती आ रही है। जैनदर्शन सभी मतों का समान आदर करने की दृष्टि प्रस्तुत करता है। आचार्य हरिभद्र ने धार्मिक सहिष्णुता के कारण ही अनात्मवाद (बौद्धदर्शन),

---

१. महाभारत, अनु. पर्व ११६-२८
२. ,, ,, ११६-२९
३. उत्तराध्ययन ६।२
४. दशवैकालिक ८।३७
५. दशवैकालिक ८।३८

कर्तृत्ववाद (न्यायदर्शन), सर्वात्मवाद (वेदान्त) में भी सामंजस्य दर्शाने का सत्प्रयास किया। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि संसार-परिभ्रमण के कारण रूप रागादि जिसके क्षय हो चुके हैं, उसे मैं प्रणाम करता हूँ, फिर चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महेश हो अथवा जिन हो।

जैनदर्शन में समतावादी समाज के लिए वैचारिक सहिष्णुता, अनाग्रही विचारधारा बड़ा योग दे सकती है। जैनदर्शन में इसी को अनेकान्तवाद कहा जाता है। आज सभी देशों में मताग्रह के कारण शीतयुद्ध जैसा वातावरण बना हुआ है। हमारे समाज में, परिवार में मताग्रह के कारण ही द्वेष-वैमनस्य तथा मनमुटाव लोगों के दिलों में भरा रहता है जो किसी भी समय प्रतिकूल हवा पाते ही क्रोध, शत्रुता, कलह, संघर्ष तथा हिंसा में परिवर्तित हो जाता है। अनेकान्तवाद ऐसा प्रेरक तत्त्व है जिसको अंगीकार कर हम अनेक समस्याओं, प्रश्नों, उलझनों को सुलझा सकते हैं। अनेकान्तवाद विचारों के प्रति अनाग्रही दृष्टि का नाम है। वस्तु के अनन्त धर्मात्मक गुणों के प्रति विधेयात्मक समन्वित दृष्टि अनेकान्त कहलाती है। हमें वस्तुस्वरूप को सापेक्षता में देखना चाहिए। हम मताग्रहग्रस्त होकर वस्तु-स्वरूप देखते हैं, विचार को देखते हैं, व्यक्ति को देखते हैं। पूर्वाग्रह के कारण विषमता उत्पन्न होती है। हम यदि पूर्वाग्रह छोड़कर दूसरे के मत—दृष्टिकोण को जानने-समझने की कोशिश करें तो समाज में समतावादी वातावरण बनाया जा सकता है। इसके लिए आवश्यक है—

(१) दूसरों के विचारों को सहानुभूति से सुनें,
(२) दूसरे के मत के प्रति सहिष्णु बनें,
(३) अपने विचार को शिष्टता से प्रस्तुत करें,
(४) अपने मत के प्रति दुराग्रह न रखें,
(५) व्यवहार में विधेयात्मक दृष्टिकोण अपनाएँ।

विभिन्न मतों—दृष्टिकोणों में समन्वय, सामंजस्य स्थापित करना अनेकान्तावादी का परम धर्म है। यहीं से वैचारिक धरातल पर हम समरसता और सहिष्णुता की भावना प्राप्त कर सकते हैं। जैनदर्शन में अनेकान्तवाद और स्याद्वाद समन्वयवाद पर आधारित हैं, अतः समाज में हम इनके आधार पर समतावादी समाज की संरचना करने में अपने कदम आगे बढ़ा सकते हैं। हमारी युवाशक्ति जो भटकी हुई है, पथभ्रष्ट है, विदृष्टि-ग्रस्त है, उसे सम्यक् दृष्टि अनेकान्तवाद द्वारा दी जा सकती है। अपनी बात को हम यों कह सकते हैं कि अहिंसा द्वारा सह-अस्तित्व, विश्व-बन्धुत्व की भावना जाग्रत की जा सकती है, मैत्री के राजमार्ग बनाये जा सकते हैं। वैर, वैमनस्य को मिटाकर प्रेम के, दया के, करुणा व सहानुभूति के सुमन विकसित कर सकते हैं। अहिंसा के एक तरफ अनेकान्तवाद और दूसरी तरफ स्याद्वाद स्थित है—

यं लोका असकृन्नमन्ति ददते यस्मै विनम्रांजलि,
मार्गस्तीर्थंकृतां स विश्वजगतां धर्मोऽस्त्यहिंसाभिधः।
नित्यं चामरधारणमिव बुधाः यस्यैकपार्श्वे महान,
स्याद्वादः परतो बभूवतु स्यानैकान्तकल्पद्रुमः॥

जैनदर्शन के अनुसार समाज में समतावादी भावना के लिए आर्थिक विषमता को, परिग्रहवाद को समाप्त करना आवश्यक है। जमाखोरी, रिश्वत, मिलावट, तस्करी, चोरी-डकैती सब परिग्रहवादी भावना के अलग-अलग मुखौटे हैं और यह मुखौटे हमें सर्वत्र नजर

आते हैं। इनके द्वारा हिंसावृत्ति को, भ्रष्टाचार को, अनैतिकता को बल मिलता है। इसी दुष्प्रवृत्ति के कारण दहेज जैसा अजगर अपना रूप अधिकाधिक विकराल बनाता जा रहा है। अनेक कोमलांगी नववधुओं को जिंदा जलाया जाता है, उन्हें अमानवीय यातनाओं का शिकार बनाया जा सकता है। कानून बना है दहेजविरोधी, लेकिन मनुष्य की अर्थलिप्सा पर रोक नहीं लग सकी। परिग्रह को जैनदर्शन में 'मूर्च्छा' कहा गया है,[1] यही ममत्व की, आसक्ति की, लोभ की, मोह की भावना है। 'दशवैकालिकसूत्र' में आसक्ति को ही परिग्रह माना गया है।[2]

लोभ मैत्री, विनम्रता, प्रेम आदि सद्गुणों का नाश कर डालता है।[3] मोहांध व्यक्ति को सन्मार्ग नहीं सूझता।[4] आर्थिक विषमता का कारण तृष्णा है, तृष्णा कभी शाँत नहीं होती। तृष्णा तृष्णा को बढ़ाती है, लोभ से लोभ पैदा होता है। इच्छाओं और तृष्णाओं को बढ़ने से रोकना अपरिग्रह है। लोभासक्ति पर नियंत्रण लगाना अपरिग्रह है। अर्थ-संचय आज के युग का प्रथम ध्येय है। आर्थिक संघर्ष और विषमता ने मानव जीवन को अशांति का अभिशाप दे दिया है। अर्थजन्य विषमता से समाज बुरी तरह आक्रान्त है। किसी को झोंपड़पट्टी में सिर छिपाने को जगह नहीं और किसी के पास कई-कई भव्य भवन हैं। वही लोग परिग्रह को परिभाषित करते हैं; 'परि' = परितः, सब ओर से, सब दिशाओं से, 'ग्रह' = ग्रहण करना, न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित का ध्यान किये बिना, चारों हाथों से लूट-खसोट करना परिग्रह कहलाता है। मनुष्य परिग्रह के कारण असत्य बोलता है, चोरी करता है, दूसरे के साथ छल-कपट करता है। परिग्रह दो प्रकार का होता है—आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर परिग्रह के अन्तर्गत माया, लोभ, मान, क्रोध, रति, मिथ्यात्व, स्त्रीवेद आदि आते हैं और बाह्य परिग्रह में मकान, खेत, वस्त्र, पशु, दास-दासी, धन-धान्य आदि शामिल हैं। यदि कोई निर्धन है, लेकिन उसमें धनी बनने की आसक्ति या मोह है तो वह परिग्रही ही माना जायेगा। ज्योतिपुरुष महावीर ने वस्तुगत परिग्रह को परिग्रह नहीं कहा, वरन् उन्होंने 'मूर्च्छा' को ही परिग्रह कहा है—

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥[5]

उन्होंने परिमाण में, आवश्यकतानुसार वस्तु-संग्रह और धनोपार्जन की स्वीकृति दी। आवश्यकता से अधिक धनसंग्रह को उन्होंने पाप कहा है और ऐसे व्यक्ति को मोक्ष नहीं मिल सकता। प्रेमचन्द धनी व्यक्ति को बड़ा नहीं समझते थे, क्योंकि बड़ा आदमी बनता है शोषण से, लूट-खसोट से, बेईमानी से, दूसरों का हक छीनने से। गाँधीजी ने सम्पत्ति को जनसाधारण के प्रयोग के लिए 'ट्रस्टीशिप' का विचार दिया। वह भी धनसंग्रह या परिग्रह के विरोधी थे। मार्क्सवाद में जो अर्थ का, पदार्थों का समान वितरण करने का आदर्श है वही अपरिग्रह है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति) ७।१७
२. दशवैकालिक ६।२०
३. दशवैकालिक ८।३७
४. उत्तराध्ययन ४।५
५. समणसुत्तं ३७९

इस्लाम में भी परिग्रह को निंदनीय माना गया है। समाज को समतावादी भूमि प्रदान करने के लिए आर्थिक विषमता की ऊँची होती दीवारों को तोड़ना होगा।

भारतीय समाज में जातिवादी प्रथा एक अभिशाप है, कलंक है। एक जाति का व्यक्ति अपने को दूसरी जाति के व्यक्ति से श्रेष्ठ समझता है। शूद्र अछूत, अस्पृश्य समझे जाते थे। डा. अम्बेडकर जैसी राष्ट्र-विभूति को जातिवाद के कारण घृणा, अपमान का शिकार होना पड़ा, फलतः उन्होंने हिन्दूधर्म का परित्याग कर बौद्धधर्म अंगीकार किया। इस शताब्दी की महानात्मा राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने अछूतों, शूद्रों को 'हरिजन' का नाम देकर समाज में आदर और समानता का दर्जा देने का भरसक प्रयत्न किया और उसमें वे कुछ सफल भी हुए। परन्तु हरिजनों पर आज भी यातनाओं की बिजली गिराई जाती है। अनेक स्थानों पर उन पर पुलिस द्वारा, उच्च जाति के लोगों द्वारा जुल्म ढाये जाते रहे हैं। कहने को तो हमारा संविधान धर्म, जाति से ऊपर है, धर्म और जाति निरपेक्ष है, परन्तु व्यवहार में हम कितने धर्मनिरपेक्ष या जातिनिरपेक्ष हैं? सन् १९४७ से अब तक हम हरिजनों की दशा में सुधार नहीं कर सके। यह अवधि कोई कम नहीं है। राजनीति में धर्म, जाति का दखल नहीं होना चाहिए, राजनीति को धर्म में, धर्म को राजनीति में नहीं लाना चाहिए। परन्तु निर्वाचन में जाति/धर्म के आधार पर 'पार्टी मेनडेट' दिया जाता है। मुस्लिम बहुल इलाके में मुस्लिम को एम एल. ए. या एम. पी. का टिकिट पार्टियां देती हैं। इस प्रकार राजनीति में, निर्वाचन में हम धर्म और जाति को खुद ही दाखिल कर देते हैं। धर्म और जाति के नाम में हम एक-दूसरे के गले को काटते हैं, मकान-दुकान जलाते हैं। क्या यह मनुष्य के लिए शोभनीय है? हिन्दू-मुस्लिम दंगे अंग्रेजों के जाने के बाद स्वतन्त्र भारत में आज तक जारी हैं, उन्हें हम बन्द नहीं करा सके। हजारों साल पहले महावीर ने मनुष्य की समानता का एक आदर्श प्रस्तुत किया था। उन्होंने कहा था मनुष्य जन्म से नहीं, कर्म से महान होता है। उन्होंने स्वयं हरिकेश चाण्डाल को गले से लगाया, उसे मुनि बनाया और कहा मनुष्य को मनुष्य से घृणा नहीं करनी चाहिए। हर व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है। सब भगवान् बन सकते हैं। जैनदर्शन यह नहीं मानता कि ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ ब्राह्मण कहलाता है या ब्राह्मणकुल में पैदा होने पर व्यक्ति ब्राह्मण होता है। यहाँ जाति को जन्मना नहीं, कर्मणा मना गया है—

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥[1]

अर्थात् मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र होता है। ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म का आचरण करे,[2] जो सत्यवादी हो, अहिंसक हो, अकिंचन हो[3] और जिसमें रागद्वेष न हो, भय न हो।[4] हमारा समाज जाति-प्रथा में, राग-द्वेष में,

---

१. उत्तराध्ययन २५।३१

२. उत्तराध्ययन २५।३०

३. उत्तराध्ययन २५।२१

४. उत्तराध्ययन २५।२२-२३

सम्प्रदाय में फंसा है। साम्प्रदायिक उन्माद ने धर्म-ज्योति को मलिन कर दिया है। समतावादी समाज की रचना के लिए साम्प्रदायिकता, जातिवाद, संकीर्णता और दुर्भावना को त्यागना होगा। जैनदर्शन इस युग में हमें नयी समाज-संरचना का व्यावहारिक रूप प्रदान करता है। सम्प्रदाय की प्रतिबद्धता की केंचुली को उतारना होगा। साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण हम दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा करते हैं, दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की जरूरत नहीं समझते, क्योंकि एकान्तिक आग्रह से ग्रस्त होते हैं। धर्म-दृष्टि को व्यापक, उदार बनाने पर, धर्म-सहिष्णु होने पर, आत्मौपम्य दृष्टि विकसित करने पर अवश्य समतावादी समाज की संरचना की जा सकती है। □□

—हिन्दी विभागाध्यक्ष
इस्लामिया कॉलेज,
श्रीनगर—१९०००२ (कश्मीर)